विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com
Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2
प्राचीन भारतीय शिल्प पदावली
सत्यप्रकाश शर्मा

पृष्ठ क्र. 3-4
वस्त्र निर्माण की अनवरत परंपरा
प्रमोद कुमार कौशिक

पृष्ठ क्र. 5-4
भारतीय मंदिर स्थापत्य कला
ईशान अवस्थी

पृष्ठ क्र. 7
प्राचीन मुद्रा की चिन्हांकन कला
धनंजय परिहार

पृष्ठ क्र. 8
कश्मीर का सांस्कृतिक अवबोध
मिथिलेश यादव

प्राचीन भारतीय शिल्प पदावली

सत्यप्रकाश शर्मा

वैदिक धर्म के अनुसार इस निखिल सृष्टि का सृजन उस प्रजापति विश्वकर्मा द्वारा माना जाता है, जो स्वयं ब्रह्मा है, रूपों का प्रदाता और सृष्टि का प्रथम व महान् शिल्पी (प्रथमछद) है। यह समस्त सृष्टि उसका शिल्प है। विश्व व्याप्त जितने भी गोचर–अगोचर रूप या आकार है, वे सभी उसके द्वारा गढ़े गये शिल्प है। ये समस्त रूप प्रथम रूप अर्थात् प्रादर्श (प्रतिरूप या मॉडल) है। इनकी सर्वप्रथम निष्पत्ति विश्वकर्मा के मन–मस्तिष्क में हुई, जो अव्यक्त थी, उसने उसे वस्तुगत माध्यम से रूपाकार देकर व्यक्त किया। फिर प्रतिरूप से ही समस्त रूपों का सृजन हुआ। इन्हीं रूपों के समुच्चय की संज्ञा सृष्टि है। क्योंकि, ये रूप समष्टिव्याप्त है इसीलिए इनका सृष्टा, ब्रह्मा भी सर्वव्याप्त है। फलतरू समस्त सृष्टि शिल्पमय है और प्रत्येक दृश्य और अदृश्य वस्तु शिल्प–रूप है। यहा यह भी उल्लेखनीय है कि वैदिक समाज में शिल्पों को इतनी महत्ता प्राप्त थी कि यज्ञों के अवसर पर शिल्प सूक्तों का भी पाठ किया जाता था। ऐतरेय ब्राह्मण 6.27 का कथन है कि, 'शिल्प सूक्तों को पढ़ते हैं। देव–शिल्प बहुत से हैं और जो मानवी–शिल्प हैं, वे देव शिल्पों की अनुकृति हैं।'

वैदिक शिल्प और शिल्पी की चर्चा करते समय इस बात पर विशेष रूप से ध्यान रखने की आवश्यकता है कि ऋग्वैदिक समाज की अवस्था तथा मान्यताएँ अलग है और इससे विकसित होते हुए उत्तर वैदिक समाज की अवस्था व मान्यताएँ बहुत परिवर्तित व भिन्न है। उदाहरण के लिए ऋग्वैदिक शिल्प सत्य का अन्वेषी है और शिल्पी द्रष्टा व सृष्टा ऋषि एवं देवतुल्य है, जबकि उत्तर वैदिककालीन, विशेषकर ब्राह्मण, आरण्यक व सूत्र ग्रंथ कालीन शिल्प मात्र कारीगरी है तथा शिल्पी निम्नवर्गीय, अछूत जैसा और मर्यादाहीन व्यक्ति। वैदिक साहित्य में कलाओं की संज्ञा शिल्प है। शिल्प के अतिरिक्त कलाओं के लिए कला जैसा कोई अन्य शब्द उपलब्ध नहीं है। शिल्प के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण का कथन है कि शिल्प मानव की आत्मा का संस्कार करता है। कौषीतकि ब्राह्मण का कथन है कि शिल्प प्राण तत्व की भाति महत्वपूर्ण और जीवन के लिए अनिवार्य है। इस प्राण तत्व की उपासना ही शिल्प है। आत्मा का संस्कार करनेवाली और मानव जीवन के लिए प्राण तत्व की भाँति अनिवार्य कहकर जिस शिल्प की व्याख्या की गयी है, उस शिल्प के अंतर्गत सभी प्रकार के कला–कौशल और कारीगरी के कार्य समाहित हैं। कौषीतकि ब्राह्मण शिल्प के अंतर्गत (क) नृत्य, (ख) गीति (गायन) और (ग) वादित (वाद्य–संगीत) की गणना करता है। शतपथ ब्राह्मण श्यदुवै प्रतिरूपं तच्छिल्पम् कहकर प्रतिरूप को भी सम्मिलित करता है। यह प्रतिरूपात्मक शिल्प चित्र व मूर्तिकला–विधा है, क्योंकि प्रतिरूप की उपादेयता चित्र और मूर्ति जैसे रूप एवं आकार प्रधान कलाओं के संदर्भ में ही सार्थक है। सुशिल्प शब्द भी प्राप्त है, जिसका अर्थ सुगठित रूप से बनायी गयी आकृति है और इसी प्रकार सुरूप–कृत्नु शब्द उस कलाकार का संकेत देता है जो सुंदर रूपाकारवाली आकृति की रचना करता है। छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार भी इन सब कलाओं की विद्या शिल्प विद्या है, जिसमें नृत्य, गायन, वादन कला और चित्र, मूर्ति व वास्तु ज्ञान (कला या शास्त्र) समाहित है। शिल्प–विद्या में चित्र व मूर्ति के साथ वास्तुकला का यद्यपि उल्लेख नहीं है, तथापि वह भी माध्यमगत रूपाकारवाली इसी वर्ग की कला होने के कारण निश्चित रूप से चित्र और मूर्ति के साथ जुड़ी हुई है, क्योंकि छांदोग्य उपनिषद् ने शिक्षा, ज्ञान और कला के समस्त विषयों को गिना दिया है, जिससे परे शिक्षा, ज्ञान और कला का कोई भी विषय शेष नहीं है। इस दृष्टि से इस सूची में ही वास्तुकला का उल्लेख है और वह निश्चित ही शिल्प के अंतर्गत है।

वैदिक साहित्य में शिल्प शब्द तो उपलब्ध है, लेकिन शिल्पी शब्द नहीं है। यह स्थिति ठीक

वैसी ही है जैसी कि ऋग्वेद में आभूषण हैं लेकिन स्वर्णकार नहीं है। सिले हुए कपड़े है लेकिन दर्जी नहीं है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद एक ज्ञान कोश है, शब्द कोश नहीं, जहाँ प्रत्येक शब्द होना ही चाहिए। ऋग्वेद में क्योंकि कला विषयक समस्त सामग्री संदर्भ के रूप में ही उपलब्ध है, इसलिए यह बहुत संभव है कि ऐसा कोई संदर्भ न आया हो जहाँ उनका उल्लेख हो पाता हो। वैसे, जब शिल्पी का कर्म उपस्थित है तो शिल्पी स्वयं ही उपस्थिति है। शिल्पी शब्द के अभाव में दो संभावनाएँ की जा सकती हैं। एक, उस काल में संभवतः शिल्पी को कोई एक सामान्य नाम न मिल पाया हो या दूसरे, उसे कर्मार जैसे सामान्य नाम के अंतर्गत ही रखा गया हो। कर्मार वस्तुतः शिल्पी के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। कमर को ऋग्वेद ने धातु गलाते हुए दर्शाया है, इसलिए उसे धातुकर्मी और प्रायः लोहार माना जाता है। वैसे, वह धातुकर्मी सुनार भी हो सकता है, काँसे, ताँबे के बर्तन बनाने वाला भी हो सकता है। इसलिए कमर केवल लोहार नहीं है, बल्कि शिल्पकार है। उत्तर वैदिक साहित्य में विभिन्न शिल्प कार्य करने वालों के लिए अलग–अलग शब्द मिलते हैं, जैसे, बढ़ई के लिए तक्षा, चर्मकार के लिए चर्मस्न, रथ बनाने वाले के लिए रथकार, कुम्हार के लिए कुलाल, नाव बनाने वाले के लिए निषाद, बाण बनाने वाले के लिए इषुकृत, धनुष बनाने वाले के लिए धन्वकृत, कपड़े बुनने और बनाने वाले के लिए तंतुवाय, कपड़े रंगने वाले के लिए रजयित्री, बालों को काट–छांटकर सुंदर रूप देने वाले के लिए वाप्ता। ये सभी कर्मार हैं और इन्हीं के लिए कर्मार शब्द का प्रयोग हुआ है, जो समस्त शिल्पियों के लिए भी प्रयुक्त है। इन शिल्पियों में नर्तक के लिए नृतू। नर्तकी के लिए नृतू, रूप गढ़ने वाले के लिए सुरूप–कृत्लु, वास्तुकार के लिए वास्तोष्पति, गायक के लिए जरितू, चित्र और मूर्ति जैसे स्थापना करने वाले स्थपतिकार के लिए स्थपति शब्द मिलते हैं। इन नामों से ज्ञात होता है कि इस प्रकार की अनेकानेक कलाएँ आर्यों के समाज में अपना विशिष्ट स्थान बना चुकी थीं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या ये सभी शिल्प एक ही श्रेणी के थे? क्या वाप्ता और रथकार में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं था? क्या नृत्य, गायन और वादन, चित्र, मूर्ति और वास्तु के शिल्पियों के लिए भी कर्मार शब्द ही प्रयुक्त हुआ है? हालाँकि, ऋग्वेद में शिल्पी शब्द उपलब्ध नहीं है, लेकिन शिल्पी नहीं रहा होगा, ऐसा संभव नहीं है, क्योंकि ऋग्वेद में उषा को सुशिल्पा कहा गया है, तो शिल्पी भी रहा होगा। ऐसी स्थिति में शिल्पी और कर्मार क्या दोनों समानार्थी या एक दूसरे के पर्याय रहे होंगे? संभावना यही है कि ये दोनों शब्द एक दूसरे के पर्याय ही रहे हैं, क्योंकि ऋग्वैदिक समाज में ये सभी कलाएँ एक दूसरे से इस प्रकार गुंफित है कि एक को दूसरे से पृथक कर देखने की आवश्यकता नहीं समझी गयी और न उस काल के चिंतक को इनमें अंतर करने की आवश्यकता प्रतीत हुई, क्योंकि उसकी मान्यता व अवधारणा वह नहीं थी, जो बाद में, उत्तर वैदिक काल में विकसित हुई। वस्तुतः समस्त ऋग्वैदिक शिल्प यज्ञोपासना और आध्यात्मिक दर्शन से प्रेरणा ले जिस महत् उद्देश्य को लेकर चला, उसका लक्ष्य सत्यान्वेषण रहा। वह उसी सौंदर्य, रस और आनंद की खोज में प्रयत्नशील रहा जिसकी खोज वैदिक ऋषि या अध्यात्मवेत्ता दार्शनिक को थी। ऐसी स्थिति में शिल्प केवल उपयोगी (कार) या कलात्मक (चारु) नहीं हो सकता। अतः ऋग्वैदिक समाज में शिल्प व शिल्पी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण रहा। ऋग्वैदिक शिल्पी एक योगी, साधक, ऋषि, दार्शनिक, चिंतक और कवि है। उसे मंत्रों के द्रष्टा कवि के समान 'ऋषिदर्शनात्' की संज्ञा प्राप्त है। वह समाज में श्रेष्ठ और सम्मानित व्यक्ति है। एक शिल्पी से जब इतनी विशेषताओं की अपेक्षा की गयी, तब निश्चय ही किसी के लिए शिल्पी बन पाना महान् गौरव की बात रही होगी। इसीलिए श्रेष्ठतम शिल्पी को देवताओं का शिल्पी कहकर महिमा मंडित किया गया होगा। अनेक देवताओं को भी शिल्पी बताया गया है और उन्हें सुकर्मण, सुकृत्य करने वाला व सुशिल्पा कहा गया है, उन्हें कवि भी कहा गया है। क्योंकि ऋग्वैदिक कालीन कला की चर्चा काव्य के रूप में ही हुई है। वाणी या देवी सरस्वती को वैदिक साहित्य में बाक के नाम से अभिहित किया गया है और उन्हें एक स्थान पर त्वष्टा कहा गया है, जो देवताओं का शिल्पी है इससे प्रतीत होता है कि कवि और शिल्पी में कोई अंतर नहीं है।

वस्त्र निर्माण की अनवरत परंपरा

प्रमोद कुमार कौशिक

सृष्टि के प्रारंभ से ही मनुष्य ने अपनी प्राथमिक आवश्यकता भोजन की प्राचापूर्ति के तत्काल बाद अपने शरीर को ढ़ांकने के लिए वस्त्र का आविष्कार किया। ऋग्वेद में अनेक प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद का ऋषि न केवल वस्त्र से परिचित है बल्कि वह उसे बुनना और अन्य धातुओं के तारों से (यथा सोने के तार) सजाना भी जानता है। इसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि ऋग्वेद में एक शब्द पेशस् का उल्लेख हुआ है, इसका अर्थ है जरी का काम किया हुआ वस्त्र, जिसे एक नर्तकी पहनेगी। इससे यह विदित होता है कि ऋग्वेद काल में न केवल साधारण कपड़े की बुनाई से ऋषि परिचित है बल्कि वह जरी युक्त कपड़ों को बुनने की कला में भी निष्णात् है। इसी बात की पुष्टि के लिए ऋग्वेद में उषा से सम्बन्धित मंत्र का उल्लेख आया है। उषा के लिए कहा गया है कि वह नर्तकी के समान वस्त्र धारण करती है। यानि, जिस काल में ऋग्वेद का लेखन हो रहा है उस समय तक वस्त्र उद्योग पर्याप्त उन्नत अवस्था को प्राप्त हो चुका था और सूती धागों के साथ धातुओं से बने धागों का भी प्रयोग होने लगा था तभी तो नर्तकी रेशमी वस्त्र जो कि जरी युक्त है को धारण करती है। साथ ही, उषा की तुलना नर्तकी के जरी युक्त वस्त्रों से भी की जा रही है यानि यह तुलात्मक दृष्टि एकाएक विकसित न हुई होगी इसमें पर्याप्त समय लगा होगा। मैकडनल वैदिक इंडेक्स में इस विद्या पर और विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि वास और वस्त्र दो शब्द हैं किन्तु दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता है। वस्त्र का निर्माण भेड़ की ऊन से होता था। वस्त्रों के बुनने वाले देव का नाम 'पूषन' था और उसे वस्त्र बुनने के कारण 'वासोवाय' यानि वस्त्रों का बुनकर भी कहा जाता था। कपड़े साधारण और असाधारण दो प्रकार के होते होंगे, किन्तु यहाँ पर जिन वस्त्रों का उल्लेख किया गया है उनमें प्रायः सोने का ही काम हो रहा है। ये बुनकर जिसे 'वासोवाय' कहा गया है प्रायः जो कपड़े बुनता था उन पर सोने का काम होता था। मरूतों को सोने के वस्त्रों से अंलकृत बताया गया है। दान में भी जो वस्त्र दिए जाते थे वे भी सोने के काम वाले होते थे। ऋग्वेद में 'वासोदा' शब्द वस्त्र देने वाले के रूप में प्रयुक्त हुआ है। मैकडनल इसको साधारण वस्त्र नहीं मानते बल्कि ये जरी के काम वाला वस्त्र है। आज का ताना–बाना ऋग्वेद में तन्तु और ओतु हैं। ताना में तन्तु का तन अब भी बना हुआ है और ओतु वा क्रिया से बना है जिसका अर्थ है बुनना। ऋग्वेद का वा आजकल बा बन गया है। जिस उपकरण से बुनाई करते थे उसे तसर कहते थे। ऋग्वेद में बुनने की तुलना बार–बार सूर्य, से उसकी किरणों से की जा रही है। जहाँ पर यज्ञ होता है ऋषि उसकी भी तुलना बुनने से करता है। ऋषि कहता है कि किरण बुनने के लिए साम रूपी ताने बाने को बनाती है। कवि यहाँ पर जहाँ एक और

ताने–बाने के संयोग से श्रेष्ठ वस्त्र बुनने की बात करता है वहीं वह प्रकृति के संयोग को भी इसी परिप्रेक्ष्य में व्याख्यापित करता है। कवि कहता है कि 'खूटिया गाड़कर चारों तरफ से पृथ्वी को स्थिर बना दिया। यानि, ठीक उस प्रकार से जैसे बुनकर खड्डी पर ताने–बाने को खूटियों से बाँधकर बिल्कुल स्थिर कर देता है और फिर उन्नत कोटि का वस्त्र बुनता है। ठीक उसी प्रकार से विष्णु ने भी पृथ्वी और आकाश के ताने–बाने को फैलाया और उसे खूटियों पर कस दिया। जिससे श्रेष्ठ सृष्टि का सृजन किया जा सके।' भारत में सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और प्रलय के साथ ताना–बाना तथा वस्त्र की अद्भुत युति है। दक्षिण भारत के संत कवि तिरूवल्लुर और उत्तर भारत के संत कवि कबीर भी इसी प्रकार की बात करते हैं। जो भी हो किन्तु ऋग्वेद के अनुशीलन से यह ध्यान में आता है कि उस काल में उन्नत श्रेणी के वस्त्रों का निर्माण होने लगा था। यह वस्त्र प्रायः स्त्रियों के द्वारा बुने जाते थे। ऋग्वेद में उल्लेख आता है कि 'माताएँ पुत्र के लिए वस्त्र बुनती है'। इस प्रकार भारत में आदि काल से ही श्रेष्ठ वस्त्र–निर्माण कला का विकास हो चुका था। इस काल ने आगे और विकास किया। ऋग्वेद के अध्ययन से यह भी संज्ञान में आता है कि ऋषि ऊन को उत्तर से प्राप्त करता था।

वाल्मीकि रामायण के अध्ययनोपरांत यह संज्ञान में आता है कि वेद काल की तुलना में यहाँ पर वस्त्रोद्योग और भी उन्नत हआ है। वस्त्रों के विविध रंग यहाँ पर देखने को मिलते हैं। वाल्मीकि लिखते हैं कि महाराजा जनक ने अपनी पुत्रियों के विवाह में बहुसंख्या में वस्त्रों का उपहार दिया था। यानि वस्त्रों का आदान–प्रदान भी उपहार आदि के रूप में होने लगा था। दान–दक्षिणा के रूप में भी वस्त्रों का चलन प्रारंभ हो गया था। वनगमन के पूर्व श्रीराम ने अपने वस्त्र परिजनों को प्रदान किए थे यह भी उल्लेख मिलता है कि भरत अयोध्यावासियों सहित जब श्रीराम को वापस लाने के लिए चित्रकूट जा रहे थे तो रास्ते में भारद्वाज के आश्रम पर रूके थे, वहाँ पर भारद्वाज ने भरत के स्वागत सत्कार में वस्त्रों के ढेर लगा दिए थे। वस्त्रों में रंगों का प्रयोग होने लगा था।

रामायण काल में व्यक्ति अपनी स्थिति के अनुरूप वस्त्र धारण करता था। वाल्मीकि लिखते हैं कि राम जो कि दशरथ के पुत्र हैं, राम कुमार भी हैं वे सदैव अपनी स्थिति के अनुरूप ही बहुमूल्य वस्त्र पहनते थे। ऋग्वेद की भाँति स्वर्ण रजत के तंतुओं का प्रयोग रामायण काल में भी बहुतायत में होता था। इनको 'महारजत वासम्' कहा जाता था। सुनहरे धागों वाले पीले वस्त्र तथा रत्नों से जुड़े 'रत्नांबर' का भी उल्लेख आया है। लंका में तो कालीन तक का उपयोग होता था। रावण की वस्त्र सज्जा के विषय में वाल्मीकि लिखते हैं कि उसने उत्तम, मथे हुए अमृत के झाग के समान श्वेत, धुला हुआ, पुष्पों से युक्त और मणियों से जड़ित वस्त्र पहने हुए थे। संपूर्ण रामायण में वाल्मीकि सुसज्जित स्त्रियों का अनेकानेक बार उल्लेख करते हैं। ऋग्वेद की भाँति यहाँ पर भी उपमा के रूप में वस्त्रों का उपयोग समाज में किया जाता था जो कि वस्त्रों के बहुतायत में उत्पादित होने का संकेत है। लक्ष्मण के समझाने पर राम सीता का विरह जन्य शोक वैसे छोड़ने को तैयार हो गए, जैसे मनुष्य मैले वस्त्र का तुरन्त परित्याग कर देता है। इसी प्रकार स्त्रियों को आकर्षक वस्त्रों से सुसज्जित बताया गया है। वाल्मीकि लिखते हैं अभिसारिका के रूप में रंभा ने मेघों के समान नीला वस्त्र धारण कर रखा था। वस्त्रों में रंगों का प्रयोग भी सोने–चाँदी की भाँति होने लगा था। वस्त्रों के उत्पादन के बाद वस्त्र की धुलाई की प्रथा भी प्रचलन में आ गई थी। तभी तो वाल्मीकि रावण के वस्त्र के लिए लिखते हैं कि उसने मथे हुए अमृत के झाग के समान श्वेत वस्त्र पहन रखा था। वस्त्रों की गुणवत्ता का उल्लेख भी वाल्मीकि ने बहुत ही सहज रूप में किया है। वे लिखते हैं कि धीमी हवाओं से चलायमान नवकाश–पुष्पों में सुशोभित नदी तट को देखकर राम को धुले हुए स्वच्छ क्षौम वस्त्रों का सहज ही स्मरण हो आता है। वस्त्रों के अनेक प्रकार प्रचलन में थे यथा–रेशमी, सीता ने सदैव कौशेय (रेशमी) वस्त्रों को धारण किया। अशोक वाटिका में भी वे कौशेय वस्त्रों में ही थी। वनगमन के समय भी राम ने कौशेय वस्त्रों का दान किया था। इसी प्रकार क्षौम वस्त्र का भी उल्लेख आया है। यह वस्त्र अधिक कीमती, मुलायम और बारीक होते थे तथा पूजा–अर्चना में प्रयुक्त किये जाते थे। इनको अलसी के पौधे के रेशों से तैयार किया जाता था। रामायण में अनेक स्थानों पर क्षौम वस्त्र का उल्लेख मिलता है। यथा कौशल्या को पूजा के समय 'क्षौमवासिनी' कहा है। राम को भी पूजा के समय क्षौम वस्त्र धारण करने वाला ही बताया है। उत्सव के समय भी क्षौम वस्त्र ही धारण किया जाता था। विवाह के बाद जब सीता अयोध्या आई तो सभी रानियों ने क्षौम वस्त्र पहन कर ही उनका स्वागत किया। रामायण के अध्ययन से यह संज्ञान में आता है कि पुरुष पूजा–अर्चना को छोड़कर भव्य सोने–चाँदी के तन्तुओं से युक्त वस्त्रों को धारण किया करते थे और स्त्रियाँ प्रायः क्षौम वस्त्रों को धारण करती थीं क्योंकि यह हल्का और मुलायम होता था जो कि उनके स्वभाव के साथ साम्य रखता था।

रामायण काल में मृग–चर्म, (अजिन) पेड़ों की छाल, (वल्कल), कुश–धीर (घास के बुने कपड़े) मुनि वस्त्र कहलाते थे। नरम मृग–चर्म को तूलाजिन (रूई की सी मृग छाला) कहते थे। कढ़ाई का प्रचलन भी था। रावण सुनहरे सूत के कपड़े पहनता था। कढ़ाई युक्त बहुमूल्य क्षौम भी वह पहनता था। सीता का उत्तरीय भी इसी प्रकार का था। कपड़ा बनाने के लिए प्रायः रेशम, क्षौम, कपास ऊन और सन का उल्लेख मिलता है। सन का उपयोग रस्सियाँ आदि के लिए ज्यादा होता था। लंका में हनुमान को इसी से बांधा गया था। कपड़ों की गुणवत्ता के आधार पर उनका नामकरण किया जाता था। यथा–महीन कपड़े को 'सूक्ष्म वस्त्र', कीमती कपड़े को महार्हवस्त्र या वराहवस्त्र तथा नये कपड़े का आहतवस्त्र कहते थे। किनारीदार और कढ़ाई युक्त वस्त्रों को संवीतवस्त्र कहा जाता था। पोशाक के लिए 'वसन', 'वासस', 'अंशुक' और 'अंबर' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। मोटे कपड़े को 'शाटी' कहा है। 'प्रावरण' एक प्रकार का ऊपरी वस्त्र था। 'परिस्तोम' या 'उत्तरच्छद' बिछाने के कपड़े को कहते थे और 'शयनप्रस्तर' पलंग पर बिछाने की चादर को कहा जाता था। 'कंचुक' बांहदार घुटनों तक लटकता हुआ क्लाक जैसा पहनावा था। श्उष्णीयश पगड़ी का बोधक था। इस प्रकार वाल्मीकि रामायण की रचना तक भारत का वस्त्र थे। उद्योग न केवल तरक्की कर गया था बल्कि बहुविध प्रयोग भी करने लगा था, उनमें से कुछ प्रयोग तो आजकल 'वस्त्र डिजायनर' कर रहे हैं जो कि रामायण काल में होते थे। पाणिनी लिखते हैं कि वैदिक काल में 'वस्त्र' और 'वसन' शब्द ही प्रचलन में थे किन्तु उनके काल में 'चीर', 'चेल', 'चीवर', 'आच्छादन' इन चारों का प्रयोग भिन्न–भिन्न रूपों में हुआ है। इस काल में भी वस्त्रों के विभिन्न प्रकार पाये जाते थे, यथा रेशमी वस्त्र – कौशेय अलसी के रेशे से बने वस्त्र औभ–औभक और ऊनी वस्त्रों को औण–और्णक (4/3/158) कहते थे। सूती वस्त्र भी प्रचलन में थे। इस प्रकार पाणिनी काल में भी वस्त्र उद्योग अपने चरम पर था और अनेक प्रकार से पहनने वाले वस्त्रों का नामकरण उनकी उपयोगिता के आधार पर किया जाता था।

भारतीय मन्दिर स्थापत्य कला

ईशान अवस्थी

भारत को मन्दिरों का देश कहा जाता है। समूचे देश में विभिन्न देवी–देवताओं के मन्दिर आज भी पाए जाते हैं। मन्दिर भारतीय स्थापत्य कला का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। भारत में मन्दिर निर्माण की परम्परा का प्रारूप बौद्ध स्तूपों और चौत्यों में पाया जा सकता है। गुप्तकाल में इन्हीं से प्रभावित होकर हिन्दू मन्दिरों का विकास हुआ था। मानव ने अपनी धार्मिक आस्थाओं को अभिव्यक्त करने के लिए जिन प्रतीकों का निर्माण किया, उनसे मूर्ति पूजा आरम्भ हुई। ईश्वर की विविध रूपों में कल्पना की गई। देवी–देवताओं के मूर्त रूपों की पूजा हेतु स्थापना के लिए जो सुन्दर भवन निर्मित हुए, वह भवन 'मन्दिर' कहलाए। देवालय के निमित्त 'मन्दिर' शब्द गुप्त काल के अनन्तर प्रचलित हुआ। अर्थशास्त्र, महाभारत एवं रामायण में मन्दिर के लिए देवायतन, देवकुल, देवगृह तथा देवालय आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। गुप्तकालीन साहित्य एवं लेखों में मन्दिर के लिए 'प्रासाद', 'देवायतन', 'देवकुल', 'देवगृह' एवं 'देवधाम' आदि शब्दों मिलते हैं। मालव संवत् 529 (472–73 ई.) की मन्दसौर प्रशस्ति में (जिसमें प्रथम कुमारगुप्त का उल्लेख मिलता है) दशपुर के सूर्य मन्दिर के लिए 'दीप्तरश्मि–प्रासाद' शब्द का उल्लेख हुआ है।

अवधारणा यह थी कि राजप्रासाद की भाँति ही देवायतन का भी स्वरूप होना चाहिए। शिल्पशास्त्रों में उत्तरी देवालयों के लिए 'प्रासाद' एवं दक्षिणी देवालयों के लिए 'विमान' शब्द का उल्लेख मिलता है। देवालय के लिए 'विमान' शब्द का प्रचलन शास्त्रीय वर्णनों से ही स्पष्ट है। उदाहरणार्थ– समरागण सूत्रधार के अनुसार देवता विमान (रथ) में बैठकर अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं। यही कारण है कि दक्षिण भारत में मन्दिरों को अब भी 'विमान' कहा जाता है। अमरकोश के अनुसार 'रथ' शब्द 'विमान' का पर्यायवाचक है। विचारणीय है कि महाबलिपुरम् (मामल्लपुरम्) के पल्लव–मन्दिरों को 'पल्लव–रथ' कहा जाता है। उत्तरी भारत के मन्दिरों के लिए 'प्रासाद' के स्थान पर 'मन्दिर' शब्द गुप्त–काल के उपरान्त से व्यवहृत होने लगा। उदाहरणार्थ–बाणकृत कादम्बरी एवं भट्टिकाव्य तथा कुमारसम्भव में 'मन्दिर' शब्द का सन्दर्भ प्राप्य (प्रावेशयन्मन्दिरम् सर्ग 5, श्लोक 55)। परन्तु यहाँ इस शब्द का प्रयोग देवालय के अर्थ में न होकर आवास अथवा राजमहल के लिए हुआ है। गुप्तकाल के उपरान्त से अद्यपर्यन्त उत्तरी भारत के मन्दिरों को बहुधा 'मन्दिर' शब्द की संज्ञा दी जाती है। गुप्तकाल के प्रारम्भिक मन्दिर सपाट छतवाले हैं। शिखर निर्माण की परम्परा सर्वप्रथम गुप्त काल के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुई। 'शिखर' शब्द का उल्लेख पहली बार मन्दसौर–प्रशस्ति (472–73 ई.) में हुआ है। यह समय गुप्तकाल के उत्तरार्द्ध का प्रतिनिधित्व करता है। शिखरयुक्त मन्दिर का प्रथम पुरातत्वीय उदाहरण देवगढ़ का मन्दिर है, जो कि गुप्तकाल के उत्तर भाग में निर्मित हुआ था। प्रश्न यह उठता है कि शिखर इस विषय में प्राचीन सामान्य अवधारणा विचारणीय हो जाती है, जिसके अनुसार देवधाम मृत्युलोक के परे अवस्थित है अथवा देवगण गिरिशृंगों पर निवास करते अथवा अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं। गगनमंडल में सुरलोक की अवस्थिति मानने के कारण देवायतन को अधिकाधिक उच्छ्रित करने की भावना जड़ पकड़ने लगी। इस आवश्यकता की सम्पर्ति शिखर कर सकता था। गुप्तकालीन मन्दसौर प्रशस्ति (मानव संवत् 529=472–73 ई.) शिखर अस्तित्व का प्राचीनतम अभिलेखिक साक्ष्य है। इसमें चौड़े (विस्तीर्ण) तथा गिरि श्रृंग की भाँति 'उत्तृङ्ग' शिखर का वर्णन मिलता है, जो उदयकालीन सूर्य एव विमल चन्द्र–रश्मियों का विश्राम स्थल था। इस लेख के अनुसार यह शिखर मानव संवत् 493 (436 ई.) में ही बन चुका था। किसी कारण विशेष से यह शिखर टूट गया। फलतरू मालव–संवत् 529 (472–73 ई.) में इसका जीर्णोद्धार हुआ। इस बार गगनचुम्बी शिखर निर्मित हुआ। इस साक्ष्य से शिखर उत्पत्ति संबंधी अवधारणा का समर्थन मिलता है जिसके अनुसार देवगढ़ नगर निवासी अथवा गिरि श्रृंगों पर निवास करते हैं।

जहाँ तक शिखर के स्वरूप का प्रश्न है, इस विषय में कई मत–मतान्तर प्रतिपादित किए गए। एक मत के अनुसार शिखर के स्वरूप की उत्पत्ति देव–रथ के आकार से हुई। इन देव–रथों पर बाँस के लट्ठों को बैठाकर ऊँचाई पर उन्हें मोड़कर बाँध दिया जाता तथा इस व्यवस्था के द्वारा उनका शीर्षक घुमावदार (कर्वीलीनियर) हो जाता था। उत्तर भारत के शिल्पियों ने इसी आकार को आदर्श रूप में ग्रहण कर लिया। फलतः आर्यावर्त के देवायतन–शिखर ऊपर की ओर घुमावदार (वक्ररेखी) हैं। एक अन्य मत के अनुसार शिखरों के आकार–प्रकार का निर्धारण प्रासाद–मंजिलों के रूप के आधार पर हुआ। यह दक्षिण भारत के शिखरों के विषय में अधिक चरितार्थ है, जो अपने विस्तार में क्रमानुसार घटती हुई (क्षीण) प्रासाद–मंजिलों की भाँति लगते हैं। दक्षिणी शिल्पशास्त्रों में द्वितल एवं त्रितल से लेकर एकादश–तल (ग्यारह मंजिलों से युक्त) तथा द्वादशतल (बारह मंजिलों से युक्त) शिखर–मंडित विमानों (मन्दिरों) के वर्णन मिलते हैं। उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में प्राचीन मन्दिरों के शिखर क्रमानुसार क्षीण होती हुई बहुधा ग्यारह अथवा बारह (तलबन्ध) की संख्या तथा इससे भी अधिक है।

करुणाशंकर शुक्ल का मानना है कि शिखर की कल्पना मनुष्य को पर्वतों की चोटियों, सघन वृक्षों और समाधिस्थ ऋषि–मुनियों की आकृतियों से प्राप्त हुई है। कन्दराओं में रहनेवाले प्रारम्भिक मानव ने पर्वत की गगनचुम्बी चोटियों को ही ईश्वर का निवास स्थान समझा था। कालान्तर में जब मनुष्य पर्वत की कन्दराओं को छोड़कर मैदानों में आया, तो देवी सत्ता

का आकार उसे उन सघन वृक्षों की शिखाकार ऊँचाई में दिखाई दिया, जिसके स्वादिष्ट फल उसके आहार बने और जिसकी शीतल छाया में उसने तपती धूप में शरण पाई। इसी प्रकार सभ्यक्त के अगले विकास चरण में पालथी मारकर तपस्या में लीन ऋषि–मुनियों के तेज से प्रकाशित मुखों के ऊपर नुकीले जटाजूट में मनुष्य ने अपने इष्टदेव का निवास परिकल्पित किया। फलित ज्योतिष विद्या के ज्ञाता वराहमिहिर ने 550 ई. के आसपास बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के अध्याय 55, 56, 57 और 58 में मन्दिर एवं प्रतिमा के निर्माण की तकनीक पर विस्तृत चर्चा की गई है। इसमें बताया गया है कि गुप्तकाल में मन्दिर की चौड़ाई से दुगनी ऊँचाई होती थी। हिंदू मंदिर वास्तुकला कला के संश्लेषण, धर्म के आदर्शों, विश्वासों, मूल्यों और हिंदू धर्म के तहत पोषित जीवन के तरीके को दर्शाता है। मंदिर तीर्थ–तीर्थ के लिए एक जगह है। सभी ब्रह्मांडीय तत्व जो हिंदू देवताओं में जीवन का निर्माण और उत्सव मनाते हैं, एक हिंदू मंदिर में मौजूद हैं– अग्नि से जल तक, प्रकृति की छवियों से लेकर देवताओं तक, स्त्री से पुरुष, ध्वनि और धूप की गंध– शाश्वत शून्यता मंदिर वास्तुकला का हिस्सा है। एक हिंदू मंदिर में स्थापत्य तत्वों के रूप और अर्थ को उस स्थान के रूप में कार्य करने के लिए आकल्पित किया गया है जहाँ यह मनुष्य और परमात्मा के बीच की कड़ी है, आध्यात्मिक ज्ञान और सत्य की प्रगति में मदद करने के लिए, उसकी मुक्ति को मोक्ष कहते हैं।

भारत में हिंदू मंदिरों के स्थापत्य सिद्धांतों का वर्णन शिल्प शास्त्रों और वास्तु शास्त्रों में किया गया है। हिंदू संस्कृति ने अपने मंदिर निर्माताओं को सौंदर्य स्वतंत्रता को प्रोत्साहित किया है, और इसके वास्तुकारों ने कभी–कभी हिंदू जीवन शैली को व्यक्त करने के लिए मंदिर निर्माण में अन्य परिपूर्ण ज्यामिति और गणितीय सिद्धांतों को अपनाकर रचनात्मक अभिव्यक्ति में काफी लचीलेपन का प्रयोग किया है। गुप्तकाल के मन्दिरों में प्रवेशद्वार, मंडप और शिखर मन्दिर के मुख्य अंग होते थे। जगत एक ऐसा चबूतरा होता जिसके ऊपर मन्दिर का निर्माण किया जाता था। यह दो–ढाई फीट से बढ़ते–बढ़ते 25 फीट हो गया। उदाहरण के लिए 'एलोरा का कैलास मन्दिर'। मंदिर का मुख्य कक्ष गर्भगृह होता, जिसमें देव प्रतिमा की स्थापना की जाती थी। यह गर्भगृह तीनों ओर दीवारों से बन्द होता तथा एक ओर मुख्य प्रवेश द्वार रहता था। गुप्तकाल में गर्भगृह चौकोर होते थे।

प्रारम्भ में ये दीवारें सादी होती थीं, किन्तु समय के बदलाव के साथ–साथ भीतरी व बाहरी ताकों में देवी–देवताओं की प्रतिमाएँ रखी जाने लगीं और बाहरी दीवारों को अलंकृत किया जाने लगा, जिनमें किन्नर, गन्धर्व, अप्सराएँ, मांगलिक, मिथुन, पशु, पक्षी और लता–गुल्म आदि मुख्य अलंकरण थे। 'देवगढ़ के दशावतार मन्दिर' के गर्भगृह की तीनों दीवारों पर विशाल ताकों में नर–नारायण, शेषशायी विष्णु तथा गजेन्द्र मोक्ष के सुन्दर दृश्य अंकित हैं। कालान्तर में बाहर की दीवारों में अनेक मोड़ दिए जाने लगे। कई–कई मोड़ की दीवारों वाले गर्भगृह अथवा शिखर को उन मोड़ों की संख्या के आधार पर 'त्रिरथ', 'पंचरथ' अथवा 'सप्तरथ' कहा जाने लगा। प्रवेश–द्वारों का अंकन साधारण होता और द्वार के दोनों तरफ गंगा और यमुना की मूर्तियाँ स्थापित रहती थीं। अहिच्छत्र में बने गुप्तकालीन शिव मन्दिर के द्वार के दोनों ओर मकरवाहिनी गंगा और कच्छपवाहिनी यमुना की आदमकद विशाल मृण्मूर्तियों मिली हैं, जो वर्तमान में राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है। आगे चलकर प्रवेश द्वारा का भव्य निर्माण होने लगा। इनमें कई द्वार शाखाएँ बनाई जाने लगी, जैसे–प्रतिहारी शाखा प्रमथ शाखा (गणों का में पद्य और शंख जैसे मांगलिक चिह्नों को प्रवेश द्वार पर बनाने का अंकन), मिथुन या दम्पती शाखा, पत्रलता शाखा आदि। जिनका उल्लेख कालिदास ने मेघदूतम् में किया है। प्रारम्भ में गर्भगृह के सामने एक छोटा–सा स्तम्भयुक्त मंडप होता, जो प्रायरू तीनों ओर से खुला रहता था। साँची के मंदिर संख्या 17 में उक्त प्रकार का प्रकार का बरामदा मिलता है। आगे चलकर यह बरामदा गर्भगृह में उपरोक्त चारों ओर भी बनाया जाने लगा। सम्भवतः इसका मुख्य कारण मन्दिर की प्रदक्षिणा को सुविधाजनक एवं सुगम बनाने के लिए किया गया हो और फिर बाद में गर्भगृह के आगे विशाल मंडप, जो सभा कक्ष के रूप में या फिर पूजा के समय भक्तगणों को उस मंडप में एकत्र होने के लिए।

गर्भगृह की बाहरी दीवारों पर कोणों के अनुरूप शिखर बनाया जाने लगा। यह शिखर छोटा बनता था, बाद में अधिक ऊँचा होता गया। मन्दिर पर दो शिखर बनाने का रिवाज था। एक गर्भगृह के ऊपर अधिक ऊँचा और दूसरा मंडप के ऊपर थोड़ा कम ऊँचा। गर्भगृह के ऊपर वाला शिखर पर जाकर आमलक, कलश और पताकायुक्त छत्र से अलंकृत किया जाता था। चौड़े आधार और नुकीले सूक्ष्म शिखर वाले मन्दिर जगत् की स्थूलता और ज्ञान की सूक्ष्मता के सम्मिलित स्वरूप हैं। यह शिखर हमें सांसारिकता से ऊपर उठने का उपदेश देता है। गुप्तकाल के प्रारम्भिक मन्दिरों में छोटे आकार के सपाट छत वाले मन्दिर बने थे। इनमें साँची का बौद्ध मन्दिर, मुकुन्दरा का मन्दिर, मध्यप्रदेश में (जबलपुर के निकट) तिगवा का विष्णु मन्दिर प्रसिद्ध है। गुप्तकालीन मन्दिरों के द्वितीय चरण में गर्भगृह के चारों ओर बन्द प्रदक्षिणापथ तथा ऊँची जगती का निर्माण हुआ। इसमें नचना का पार्वती मन्दिर, भुमरा का शिव मन्दिर, पिपरिया का विष्णु मन्दिर, सतना जिले में खोह, ऊँचेहरा, नागौद तथा मढ़िया नामक स्थानों पर भी प्रारम्भिक गुप्तकालीन मन्दिर मिले हैं। गुप्तकाल में बने मन्दिरों का अगला विकास उनके गर्भगृह के ऊपर सपाट छत के स्थान पर शिखर के रूप में आया, जो ऊँचे और नुकीले अथवा इशावतार मन्दिर, कानपुर जिले का 'भीतरगाँव का इष्टिका मन्दिर', 'बोधगया' पिरामिडनुमा थे। इस प्रकार के मन्दिरों में झाँसी के निकट 'देवगढ़ का बुद्ध मन्दिर' तथा मध्य प्रदेश के रायपुर जिले में सिरपुर का 'लक्ष्मण मन्दिर' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्राचीन मुद्रा की चिन्हांकन कला

धनंजय परिहार

प्राचीन मालवा में विभिन्न धातुओं से निर्मित मुद्राएँ व्यापार व्यवसाय के निमित्त ही निर्मित नहीं की जाती थीं, वरन इन मुद्राओं से तत्कालीन समाज की सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक विश्वासों पर आधारित कला परम्परा ज्ञात होती है। प्राचीन विशेषज्ञों के प्राचीन विशेषज्ञों के मत में शिल्पी द्वारा मुद्राएँ उसी अनुपात में निर्मित की जाती थीं, जितनी उनकी आवश्यकता प्रतीत होती थीं। मुद्रा निर्माता या कलाकार किसी वणिक् श्रेणी या राज्यान्तर्गत मुद्रा निर्माण करता था। मुद्रा निर्माण के पश्चात् चिन्हांकन कार्य चित्रकला के समकक्ष सूक्ष्म था। मुद्रा निर्माण व चिन्हांकन कर्ता कलाकार को अथक परिश्रम व लगन के साथ सीमित आकार में चिन्ह आलेखन का कार्य करना पड़ता था। महावग्ग में उपालि का उल्लेख है कि चिन्हांकन के कारण उपालि की आँख खराब हो जाने की संभावना है। चिन्हित मुद्राएँ विभिन्न आकार प्रकार की मिलती हैं, यथा लम्बाकार, चिपटी, चतुर्भुज, चौकोर, गोलाकार, पंच या षट्कोण। मुद्रा निर्माण की तीन प्रणालियाँ पत्तर काटकर,साँचे में ढालकर और ठप्पे से चिन्हांकित ज्ञात होती है। मुद्रा निर्माण के प्रारंभिक काल में मुद्राओं की बनावट भद्दी दृष्टिगत होती है। ये मुद्राएँ चौड़े, पतले तथा बड़े आकार की थीं। प्रमुखतः चिन्हांकन पर ध्यान दिया जाता था, जिनका मुख्य ध्येय व्यापार विनिमय था। तत्कालीन जन मानस की भावनाओं तथा विश्वासों के अनुरूप इन चिन्हों को ध्यान में रखकर अंकित किया गया होगा। पूर्व–कालीन परम्परा यथा शैलाश्रय चित्रों, ताम्राश्मीय मृण्पात्रों, मृणमूर्तियों पर आधारित प्रतीकात्मक चिन्हों का समावेश इनमें किया गया। प्रारंभिक मुद्राओं जैसे– रजत ताम्र आहत पर कई प्रकार के चिन्ह अंकित मिलते है। इनमें सूर्य, चन्द्र, मेरु तथा वृक्ष प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों में पूजित थे। मुद्राओं पर तारिका, एक से लेकर चार लघ्वाकार सूर्याकृतियाँ, बिन्दु युक्त सूर्य, वृत्त बिन्दु युक्त सूर्य, छः किरणों से लेकर सोलह किरणों तक, सीधी व धुमावदार किरणों का बहुत ही स्पष्ट अंकन है। यह चिन्ह मुद्राओं पर सर्वाधिक रूप में अंकित है। कलाकार ने इस चिन्ह को बड़ी दक्षता से उकेरा है। सूर्य से उर्जा, प्रकाश व कृषि कार्यों के उत्पादन में सहायता मिलती थी। चन्द्र का उर्वरता से सम्बन्ध था। मानव का दृढ़ विश्वास था कि मेरु तथा वृक्ष में देवता निवास करते हैं। ग्राम्य जीवन में प्रकृति का अत्यधिक प्रमुख स्थान मानकर कलाकार ने सूर्य, चन्द्र, मेरु तथा वानस्पतिक जगत का अधिक अंकन मुद्राओं पर किया है। षडरचक्र चिन्ह से छः ऋतुओं का आभास होता है। पशु जगत् से सम्बन्धित चिन्ह इन मुद्राओं पर अंकित मिलते हैं। हस्ती को ऊर्द्धव शुंड अथवा निम्न शुंड अंकित किया गया है। सिंह व सिंह मत्स्य का भी इन पर अंकन हुआ है सिंह को कहीं स्थिर व कहीं गतिशील दर्शाया गया है। वृषभ की विभिन्न आकृतियाँ जैसे– बैठा हुआ, मकार युक्त, मत्स्य युक्त, ककुद रहित खड़ा, ककुदमान खड़ा हुआ, झुका हुआ तथा गतिशील रूप में अंकित है। वृषम कृषि उत्पादन हेतु प्रमुख साधन था। अश्व आकृति का भी विभिन्न रूपों में अंकन अंकित की गई है। इनके पैर सरल रेखाओं द्वारा तथा गर्दन घुमाव चित्रित हैं। श्वान का अंकन भी किया गया है। श्वान तत्कालीन मानव के आखेट में सहायक के रूप में एक साधन था मुद्राओं पर श्वान द्वारा शश को मुँह में लिये हुए स्वाभाविक चित्रण किया गया है। मेंढक, मत्स्य व कूर्म का अंकन है। नाग का अकन क्वचित् मुद्राओं पर किया गया है। पक्षियों में पर्वत पर अथवा दण्ड स्थित मयूर का कलात्मक चित्रण है। अन्य चिन्ह जैसे– छेदित त्रिगोल, ट्रिस्केलीज, लौहशलाका, शंख, यज्ञ–यूप, अन्नागार व दाडिम फल आदि का अंकन इन मुद्राओं पर किया गया मानवीय सृष्टि–प्रकृति जन्य सृष्टि में जो भी मानव की जीविका के साधन उपलब्ध थे, उनका वह भोक्ता था। अतः मानव का भी अंकन इन मुद्राओं पर सर्व प्रथम किया गया। इन मुद्राओं पर रेखाओं द्वारा मानवांकन किया गया है। इन पर खड़ी उदरग्र भुजा विहीन पुरुषाकृति प्रायः बाँयी ओर देखते हुए अंकित है। इन पर अंकित मानवाकृतियाँ समानुपातिक नहीं है। यह अंकन कला का प्रारंभिक रूप प्रदर्शित करता है। क्रमशः इस भावना का विकास हुआ कि इस प्रकृतिजन्य सृष्टि का कोई नियन्ता या नियामक अवश्य है। इन्हीं भावनाओं के आधार पर मुद्राओं पर दण्डधारी आकृति का भी अंकन किया गया होगा। कालान्तर में उसको देवता मानकर मुद्राओं पर निम्न केशी, ऊर्द्धव केशी दंडधारी, सम्मुख दृष्टि अथवा पार्श्व में देखते हुए अंकित किया गया है। इन ऊर्द्धव केशी आकृतियों में कहीं–कहीं दण्ड व कभी बायें या दाहिने हाथ में कमण्डल धारण किये हुए अंकित है। कुछ आकृतियों में शीश के ऊर्द्धव भाग पर कहीं सर्प फण सदृश्य चिन्ह स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

कश्मीर का सांस्कृतिक अवबोध

इस पुस्तक में संस्कृत भाषा एवं साहित्य में कश्मीर के योगदान पर विद्वत्तापूर्ण एवं गहन अंतर्दृष्टि भारतविद्या के सर्वाधिक महत्वपूर्ण समकालीन विद्वान् प्रो. रजनीश कुमार शुक्ल द्वारा प्रस्तुत की गई है। उनके द्वारा प्रस्तुत अंतर्दृष्टि इस विषय की सारगर्भित एवं महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है, साथ ही इस विषय में गहन शोध करने वाली नई पीढ़ी के अन्वेषियों के लिए आधार का कार्य करेगी। यह गहन संतुष्टि और गर्व का विषय है कि प्रो. शुक्ल उन अग्रणी भारतीय विद्वानों में से हैं, जिन्होंने इतिहास के क्रूर हाथों से अब तक छिपे हुए कश्मीरी योगदान को विस्मृति के अंधकार से खींचकर हमारे सामने प्रस्तुत किया है। इस पुस्तक में कश्मीर के आख्यान, इतिहास, लोक कथाएँ, गीत व मिथकीय प्रतीकों के संवेदनात्मक आशयों, आयामों, स्मृतियों, परंपराओं और यात्राओं के साक्ष्य मिलेंगे। पुस्तक में संकलित लेखों में कश्मीर के जन्म की कथा से लेकर उसके वर्तमान तक के परिदृश्य को समेटने का यत्न किया गया है। नीलमत ष्पुरा में यह आख्यान मिलता है कि कश्मीर की घाटी कभी बहुत बड़ी झील हुआ करती थी। सतीसर की उस अपार जलराशि को निकालकर कश्यप ऋषि ने उसे मनोरम प्राकृतिक स्थल में परिवर्तित कर दिया।

हजारों साल पहले सम्राट अशोक द्वारा कश्मीर में बौद्ध धर्म का प्रचार करने, कनिष्क द्वारा उसकी जड़ें और गहरी करने, कश्मीर पर हूणों के अधिकार, घाटी पर उज्जैन साम्राज्य के नियंत्रण, विक्रमादित्य राजवंश के पतन के बाद स्थानीय शासकों का राज कायम होने, हिंदू और बौद्ध संस्कृतियों का मिश्रित रूप विकसित होने, ललितादित्य के रूप में अत्यंत प्रतापी राजा के होने और राज्य विस्तार करने तथा तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में कश्मीर में इस्लाम के आगमन, तातारों के हमले के बाद हिंदू राजा सिंहदेव के भाग जाने और जैनुल आब्दीन के कश्मीर में सत्ता में आने, चक शासकों द्वारा जैनुल आब्दीन के पुत्र हैदरशाह की सेना को खदेड़ दिए जाने, मुगल शासन, फिर मुगल शासन से निकलकर अफगानिस्तान के अहमद शाह अब्दाली के हाथों में कश्मीर के जाने, पंजाब की संवेदना से कश्मीर के जुड़ने, कृपाराम, गुरु तेगबहादुर के साहचर्य, महाराजा रणजीत सिंह तक की कथा का विवेचन इस पुस्तक में मिलेगा। कश्मीर के अधिष्ठाता देवता शिव हैं और अधिष्ठात्री देवी शक्ति। कश्मीर के जनमानस में शिव तथा शक्ति की चेतना का होना स्वाभाविक है। चेतना की अभिव्यक्ति कश्मीर की कला में भी नाना रूपों में हुई। विस्तृत सती का अवतार माना जाता है। कहा जाता है कि जो उमा हैं, वही कश्मीरा कहलाती है। जम्मू–कश्मीर का सांस्कृतिक अवबोध भारत और भारतीयता का अवबोध है।

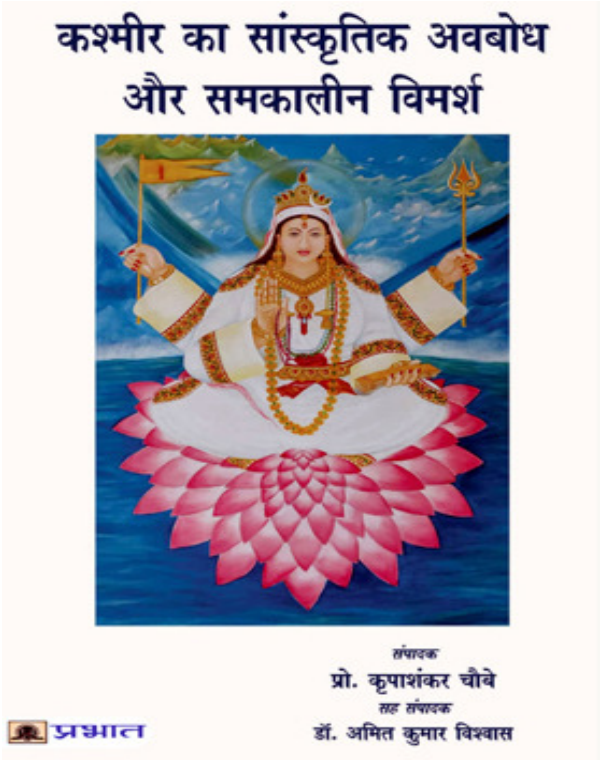

सांस्कृतिक अवबोध भाषा और साहित्य के परिप्रेक्ष्य से ही होता है। कोई और परिप्रेक्ष्य नहीं है जिसके आधार पर संस्कृति का बोध हो सके, लेकिन कठिनाई यह है कि भारत के भीतर जो लोग उन्नीसवीं शताब्दी के बाद का सांस्कृतिक इतिहास लिख रहे थे, उन लोगों ने सांस्कृतिक अवबोध को मृत और भौतिक वस्तुओं के आधार पर लिखने का यत्न किया। उस यत्न का परिणाम था कि संस्कृति भी एक तरह से वस्तु तथ्य हो गई। इसलिए कश्मीर के सांस्कृतिक अवबोध को गंभीरता से समझने की आवश्यकता है। भारत और पूरी दुनिया के अध्येता इस बात को लेकर सहमत हैं कि कश्मीर की जो सांस्कृतिक मान्यताएँ हैं, वे भारत की मूल सांस्कृतिक मान्यताएँ हैं। कश्मीर की संस्कृति अर्थात् भारत की संस्कृति भारत के किसी भी कोने में यज्ञोपवीत संस्कार हो रहा हो, जिसका संस्कार होता है, उसे उस समय कश्मीर की ओर मुंह करके बैठाया जाता है और तब वह प्रार्थना करता है– नमस्ते शारदे देवी कश्मीरपुरवासिनि त्वामहं प्रार्थये नित्यं विद्यादानं च देहि मे अर्थात कश्मीरपुर, कश्मीर क्षेत्र, कश्मीर मंडल में निवास करने वाली शारदा देवी, मैं आपकी प्रार्थना करता हूँ, आपको प्रणाम करता हूँ और यह विनती करता हूँ कि मुझे विद्या दान दें।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com